

○ वीतराग-विज्ञान (अक्टूबर-मासिक) \* 26 सितम्बर 2010 • वर्ष 29 • अंक 3

## सम्पादकीय

### नियमसार : एक अनुशीलन

#### नियमसार गाथा ६५

विगत गाथा में आदाननिक्षेपणसमिति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है और अब इस गाथा में प्रतिष्ठापनसमिति का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -  
पासुगभूमिपदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।  
उच्चारदिच्चागो पइट्टासमिदी हवे तस्स ॥६५॥  
( हरिगीत )

प्रतिष्ठापन समिति में उस भूमि पर मल मूत्र का।

क्षेपण करें जो गूढ प्रासुक और हो अवरोध बिन ॥६५॥

परोपरोध से रहित, गूढ, प्रासुक भूमिप्रदेश में इसप्रकार मल-मूत्र का त्याग करना कि उससे किसी जीव का घात न हो, प्रतिष्ठापनासमिति है।

दूसरे के द्वारा रोके जाने को परोपरोध कहते हैं। तात्पर्य यह है कि मुनिराज ऐसे स्थान पर मल-मूत्र का क्षेपण करें कि जहाँ कोई रोक-टोक नहीं हो, थोड़ी-बहुत आड़ हो और उक्त भूमि पर जीव-जन्तु भी न हों।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह मुनियों के काय के मलादिक के त्याग के स्थान की शुद्धि का कथन है। शुद्धनिश्चयनय से तो जीव के देह का अभाव होने से अन्नग्रहणरूप परिणति ही नहीं है; परन्तु व्यवहारनय से जीव के शरीर होता है; इसलिए देह होने से आहार ग्रहण भी होता ही है। आहार ग्रहण के कारण मल-मूत्रादिक भी होते ही हैं।

इसलिए संयमियों के मल-मूत्रादिक त्याग का स्थान जन्तुरहित और पर के उपरोध से रहित होता है।

उक्त स्थान पर शरीरधर्म करके पश्चात् परमसंयमी उस स्थान से उत्तर दिशा की ओर कुछ डग जाकर उत्तरमुख खड़े रहकर शरीर की क्रियाओं का और संसार के कारणभूत परिणामों और मन का उत्सर्ग करके निजात्मा को अव्यग्र होकर ध्याता है अथवा पुनः पुनः शरीर की अशुचिता को सर्व ओर से भाता है; उस परमसंयमी के प्रतिष्ठापनासमिति होती है। दूसरे स्वच्छन्दवृत्तिवाले यतिनामधारियों के कोई समिति नहीं होती।”

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“छठी-सातवीं भूमिका में झूलते मुनि, जहाँ किसी के द्वारा रोक-टोक न हो, जो गुप्त हो और जहाँ त्रसादि जन्तुओं का संचार न हो; ऐसे प्रासुक भूमिप्रदेश में मलादि का त्याग करते हैं, उनके प्रतिष्ठापन समिति होती है।<sup>१</sup>

जन्तुरहित तथा पर की रोक-टोक से रहित स्थान में शरीरधर्म - मलत्याग की क्रिया करके फिर परमसंयमी मुनि उस स्थान से उत्तर दिशा में कुछ कदम चलकर उत्तरमुख खड़े रहकर, मन-वचन-काय की क्रियाओं का लक्ष छोड़कर, प्रतिष्ठापन-समिति के शुभविकल्प को भी छोड़कर, निजात्मा को अव्यग्र होकर - एकाग्र होकर ध्याते हैं।

प्रतिष्ठापनसमिति का विकल्प व्यवहारसमिति है और उसे तोड़कर स्वरूप में लीन होना निश्चयसमिति है।<sup>२</sup>”

इस समिति में यह बताया गया है कि छठवें-सातवें गुणस्थान में निरन्तर आने-जानेवाले मुनिराज जब सातवें गुणस्थान में होते हैं; तब तो उनके निश्चयप्रतिष्ठापना-समिति होती है; परन्तु छठवें गुणस्थान में हों, तब उन्हें मल-मूत्रादि क्षेपण का विकल्प हो सकता है।

ऐसी स्थिति में उनके भाव और आचरण ऐसा होता है कि वे परोपरोध से रहित निर्जन्तु प्रासुक भूमि पर अच्छी तरह देखकर सावधानीपूर्वक मल-मूत्र का क्षेपण करते हैं। उनकी उक्त क्रिया और तत्संबंधी शुभभाव व्यवहारप्रतिष्ठापनसमिति है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव तीन छन्द लिखते हैं; जिनमें से पहला छन्द इसप्रकार है -

( मालिनी )

समितिरिह यतीनां मुक्तिसाम्राज्यमूलं

जिनमतकुशलानां स्वात्मचिंतापराणाम् ।

मधुसुखनिशितास्त्रवातसंभिन्नचेतःह

सहितमुनिगणानां नैव सा गोचरा स्यात् ॥८८॥

( हरिगीत )

आत्मचिंतन में परायण और जिनमत में कुशल ।

उन यतिवर्षों को यह समिति है मूल शिव साम्राज्य की ॥

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५५०

२. वही, पृष्ठ ५५१

कामबाणों से विंधे हैं हृदय जिनके अरे उन।  
मुनिवरो के यह समिति तो हमें दिखती ही नहीं ॥८८॥

जिनमत में कुशल और स्वात्मचिन्तन में परायण मुनिवरो को यह समिति मुक्तिसाम्राज्य का मूल है; किन्तु कामदेव के तीक्ष्णबाणों से विंधे हुए हृदयवाले मुनिगणों को तो यह समिति होती ही नहीं है।

इस छन्द में मात्र इतना ही कहा गया है कि जिनसिद्धान्त में कुशल, उसके मर्म को गहराई से समझनेवाले एवं अपने आत्मा के चिन्तन में प्रवीण मुनिराजों को यह समिति मुक्ति का साम्राज्य दिलानेवाली है; किन्तु इच्छाओं के गुलाम कामान्ध लोगों के तो यह होती ही नहीं है।

दूसरा छन्द इसप्रकार है -

( हरिणी )

समितिसमितिं बुद्ध्वा मुक्त्यंगनाभिमतामिमां  
भवभवभयध्वांतप्रध्वंसपूर्णशशिप्रभाम् ।  
मुनिप तव सद्दीक्षाकान्तासखीमधुना मुदा  
जिनमततपःसिद्धं यायाः फलं किमपि ध्रुवम् ॥८९॥

( रोला )

दीक्षाकान्तासखी परमप्रिय मुक्तिरमा को।  
भवतपनाशक चन्द्रप्रभसम श्रेष्ठ समिति जो ॥  
उसे जानकर हे मुनि तुम जिनमत प्रतिपादित।  
तप से होनेवाले फल को प्राप्त करोगे ॥८९॥

जो मुक्तिरूपी अंगना को प्रिय है, भव-भव के भयरूपी अंधकार को नष्ट करने के लिए पूर्ण चन्द्रमा की प्रभा के समान है, तेरी दीक्षारूपी कान्ता का सखी है; सभी समितियों में श्रेष्ठ इस समिति को प्रमोद से जानकर हे मुनिराज ! तुम जिनमत निरूपित तप से सिद्ध होनेवाले ध्रुव फल को प्राप्त करोगे।

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि मुक्तिरूपी स्त्री को प्रिय, भवभय के अंधकार को नष्ट करने के लिए चन्द्रमा के समान एवं दीक्षारूपी कान्ता की सखी इस समिति को जानकर तुम जिनमत में निरूपित तप के फल में प्राप्त होनेवाले फलों को प्राप्त करोगे।

तीसरा छन्द इसप्रकार है -

( द्रुतविलंबित )

समितिसंहतितः फलमुत्तमं सपदि याति मुनिः परमार्थतः ।

न च मनोवचसामपि गोचरं किमपि केवलसौख्यसुधामयम् ॥१०॥

( दोहा )

समिति सहित मुनिवरों को उत्तम फल अविलम्ब ।

केवल सौख्य सुधामयी अकथित और अचिन्त्य ॥१०॥

मुनिराज समिति की संगति द्वारा वस्तुतः मन के अचिन्त्य और वाणी से अकथनीय केवलसुखरूपी अमृतमय उत्तम फल शीघ्र प्राप्त करते हैं ।

इसमें भी यह कहा जा रहा है कि मुनिराज इस समिति के फल में अचिन्त्य और अकथनीय उत्तमसुख को प्राप्त करते हैं ।

इस व्यवहारचारित्राधिकार के आरंभ से यहाँ तक अर्थात् ५६ से ६५वीं गाथा तक १० गाथाओं; उनकी संस्कृत टीका और उसमें समागत कलशों में पंचमहाव्रत और पाँच समितियों का निरूपण किया गया है ।

उक्त सम्पूर्ण विषयवस्तु को छहढाला में पण्डित दौलतरामजी ने अत्यन्त संक्षेप में इसप्रकार प्रस्तुत किया है -

( हरिगीतिका )

षट् काय जीव न हनन तैं, सब विधि दरब हिंसा टरी ।

रागादि भाव निवार तैं, हिंसा न भावित अवतरी ॥

जिनके न लेश मृषा न जल, मृण हू बिना दीयौ गहैं ।

अठ-दश सहस्र विधि शील धर, चिद्ब्रह्म में नित रमि रहैं ॥१॥

अन्तर चतुर्दश भेद बाहिर, संग दशधा तैं टलैं ।

परमाद तजि चउ कर मही लखि, समिति ईर्य्या तैं चलैं ॥

जग सुहितकर सब अहितहर, श्रुति सुखद सब संशय ह्रैं ।

भ्रम-रोग हर जिनके वचन, मुख-चन्द्र तैं अमृत झरैं ॥२॥

छ्यालीस दोष बिना सुकुल, श्रावक तनै घर अशन को ।

लैं तप बढावन हेत नहिं तन, पोषते तजि रसन को ॥

शुचि ज्ञान संयम उपकरण, लखि कैं गहैं लखि कैं धरैं ।

निर्जन्तु थान विलोकि तन मल, मूत्र श्लेषम परिहरैं ॥३॥<sup>१</sup>

मुनिराजों के द्वारा छह काय के जीवों के घात न होने से द्रव्यहिंसा तो सम्पूर्णतः

१. छहढाला : छठवीं ढाल, १ से ३ छन्द तक

टल ही जाती है; साथ ही भूमिकानुसार तीन कषायों के अभावरूप रागादिभावों के निवारण हो जाने से भावहिंसा भी अवतरित नहीं होती। इसप्रकार उनके अहिंसा महाव्रत भलीभाँति पलता है।

वे मुनिराज असत्यवचनों का उपयोग नहीं करते और बिना दिये जल और मिट्टी का भी ग्रहण नहीं करते तथा अठारह हजार प्रकार के शील धारण करके निरन्तर अपने आत्मा में ही रमे रहते हैं। इसप्रकार उनके सत्यमहाव्रत, अचौर्यमहाव्रत तथा ब्रह्मचर्यमहाव्रत पलता है।

मिथ्यात्वादि १४ प्रकार के अंतरंग परिग्रह और १० प्रकार के बाह्य परिग्रह - इसप्रकार कुल २४ प्रकार के परिग्रहों के टल जाने से परिग्रह त्याग महाव्रत भी सहजता से पलता है।

वे मुनिराज प्रमाद को छोड़कर चार हाथ आगे की जमीन देखकर चलते हैं; इसप्रकार ईर्यासमिति का पालन करते हैं तथा सम्पूर्ण जगत का हित करनेवाले, अहित को हरनेवाले, सब प्रकार के संशय को दूर करनेवाले, कानों को सुख देनेवाले एवं भ्रमरूपी रोग को हरनेवाले कथन उनके मुखरूपी चन्द्रमा से अमृत के समान झरते हैं - यह उनकी भाषा-समिति का स्वरूप है।

मुनिराज उत्तम कुलवाले श्रावक के घर छयालीस दोषों से रहित, शरीर के पोषण के लिए नहीं, अपितु तप की वृद्धि के लिए नीरस भोजन लेते हैं। यह उनकी एषणासमिति है।

शौच, ज्ञान और संयम के उपकरण पीछी, पुस्तक और कमण्डलु को देखकर ग्रहण करते हैं और देखकर ही रखते हैं - यह उनकी आदाननिक्षेपण समिति है तथा मल, मूत्र एवं कफ आदि पदार्थ निर्जन्तु स्थान देखकर क्षेपण करते हैं - यह उनकी प्रतिष्ठापना नाम की समिति है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि छहढालाकार ने पंचमहाव्रत और पाँच समितियों का स्वरूप अत्यन्त संक्षेप में बड़ी ही सहजता से प्रस्तुत कर दिया है।

### नियमसार गाथा ६६

व्यवहारचारित्राधिकार की विगत १० गाथाओं में पाँच महाव्रत और पाँच समितियों का विवेचन करने के उपरान्त अब तीन गुप्तियों की चर्चा करते हैं। उनमें से पहली गाथा में पहली गुप्ति मनोगुप्ति का स्वरूप बताया गया है। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

कालुस्समोहसण्णारागदोसाइअसुहभावाणं ।  
परिहारो मणुगुत्ती ववहारणयेण परिकहियं ॥६६॥  
( हरिगीत )

मोह राग द्वेष संज्ञा कलुषता के भाव जो।

इन सभी का परिहार मनोगुप्ति कहा व्यवहार से ॥६६॥

कलुषता, मोह, संज्ञा, राग-द्वेष आदि अशुभभावों के परिहार को व्यवहारनय से मनोगुप्ति कहा है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह व्यवहार मनोगुप्ति के स्वरूप का कथन है। क्रोध, मान, माया और लोभ - इन चार कषायों से चित्त की क्षुब्धता कलुषता है। दर्शनमोह और चारित्रमोह के भेद से मोह दो प्रकार का है। आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा के भेद से संज्ञा चार प्रकार की है। प्रशस्तराग और अप्रशस्त राग के भेद से राग दो प्रकार का है। असह्य जनों या असह्य पदार्थों के प्रति बैर का परिणाम द्वेष है। इत्यादि अशुभपरिणामप्रत्ययों का परिहार ही व्यवहारनय के अभिप्राय से मनोगुप्ति है।”

इस गाथा के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“मुनि के मुनिपने के योग्य शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ जो हठरहित मनआश्रित, वचनआश्रित अथवा कायआश्रित शुभोपयोग है उसको व्यवहारगुप्ति कहते हैं, कारण कि शुभोपयोग में मन, वचन, काय के साथ अशुभोपयोगरूप जुड़ान नहीं है। शुद्धपरिणति न हो वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है, उसे तो व्यवहारगुप्ति भी नहीं कहते।<sup>१</sup>

दर्शनमोह के अभाव के बिना व्यवहारसमिति अथवा गुप्ति नहीं हो सकती, इसीलिए व्यवहारगुप्ति की प्रथम गाथा में मुनि के मोह का परिहार लिया है।

संसार के कारणों से आत्मा का गोपन करना वह गुप्ति है।<sup>२</sup>

स्वभाव के भान की भूमिका में अशुभ छूटकर, जो मन-वचन-काय की तरफ के परिणाम के गोपन का शुभविकल्प है, उसे व्यवहारगुप्ति कहते हैं। इस गुप्ति का अंश अपनी भूमिका प्रमाण पाँचवें गुणस्थानवाले के भी होता है।<sup>३</sup>”

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५५८

२. वही, पृष्ठ ५५९

३. वही, पृष्ठ ५६०

इस गाथा में मनोगुप्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कषायभावरूप कलुषता; आहार, भय, मैथुन और परिग्रहरूप संज्ञा; राग-द्वेष-मोह आदि अशुभभावों के अभाव को मनोगुप्ति कहा गया है।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है -  
( वसन्ततिलका )

गुप्तिर्भविष्यति सदा परमागमार्थ-  
चिंतासनाथमनसो विजितेन्द्रियस्य ।  
बाह्यान्तरंगपरिषंगविवर्जितस्य  
श्रीमज्जिनेन्द्रचरणस्मरणान्वियतस्य ॥११॥

( रोला )

जो जिनेन्द्र के चरणों को स्मरण करे नित ।  
बाह्य और आन्तरिक ग्रंथ से सदा रहित हैं ॥  
परमागम के अर्थों में मन चिन्तन रत है ।

उन जितेन्द्रियों के तो गुप्ति सदा ही होगी ॥११॥

जिनका मन परमागम के अर्थों से चिन्तन युक्त है, जो विजितेन्द्रिय हैं, जो बाह्य व अंतरंग परिग्रहों से रहित हैं और जिनेन्द्र भगवान के चरणों के स्मरण संयुक्त है; उन मुनिराजों के गुप्ति सदा ही होगी ।

इस छन्द में यही कहा गया है कि परमागम के विषयों में चिन्तनरत, अन्तर्बाह्य परिग्रह से रहित, जिनेन्द्र भक्ति में मग्न, जितेन्द्रियी सन्तों के मनोगुप्ति सदा होगी ही ।

नियमसार गाथा ६७

विगत गाथा में मनोगुप्ति का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त अब इस गाथा में वचनगुप्ति का स्वरूप समझाते हैं । गाथा मूलतः इसप्रकार है -

थीराजचोरभक्तकहादिवयणस्स पावहेउस्स ।  
परिहारो वयगुत्ती अलियादिणियत्तिवयणं वा ॥६७॥

( हरिगीत )

पापकारण राज दारा चोर भोजन की कथा ।  
मृषा भाषण त्याग लक्षण है वचन की गुप्ति का ॥६७॥

पाप के हेतुभूत स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भक्तकथा आदि रूप वचनों का परिहार अथवा आहारादिक की निवृत्तिरूप वचन वचन-गुप्ति है ।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार



स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ वचनगुप्ति का स्वरूप कहा है। बड़ी हुई कामवासनावाले कामुकजनों द्वारा की जानेवाली और सुनी जानेवाली महिलाओं की संयोग-वियोजजनित विविध वचन रचना ही स्त्रीकथा है; राजाओं का युद्धहेतुक कथन राजकथा है; चोरों का चोर्यप्रयोग संबंधी कथन चोरकथा है और अत्यन्त बढी हुई भोजन की प्रीतिपूर्वक मैदा की पूड़ी, चीनी, दही, मिश्री आदि अनेकप्रकार के भोजन की प्रशंसा भक्तकथा अर्थात् भोजनकथा है - इन समस्त कथाओं का परिहार वचनगुप्ति है।

असत्य की निवृत्ति भी वचनगुप्ति है अथवा अन्य अप्रशस्तवचनों की निवृत्ति भी वचनगुप्ति है।”

यहाँ वचनगुप्ति के स्वरूप में असत्य और अप्रशस्त बोलने का निषेध तो किया ही गया है, साथ में चार प्रकार की विकथाओं के करने का भी निषेध किया गया है।

उक्त चार प्रकार की विकथाओं का पढना-पढाना, सुनना-सुनाना, लिखना-लिखाना आदि तत्संबंधी सभी प्रवृत्तियों का निषेध है।

इसके उपरान्त टीकाकार मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ‘तथा श्री पूज्यपादस्वामी ने भी कहा है’ - ऐसा लिखकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है -

( अनुष्टुभ् )

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।

एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥<sup>१</sup>

( सोरठा )

छोड़ो अन्तर्जल्प बहिर्जल्प को छोड़कर ।

दीपक आतमराम यही योग संक्षेप में ॥

इसप्रकार बहिर्वचनों को त्यागकर अन्तर्वचनों को संपूर्णतः छोड़े। यह संक्षेप से योग है, समाधि है। यह योग परमात्मा को प्रकाशित करने वाला दीपक है।

इस छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ मुनि की वचनगुप्ति की व्याख्या चल रही है। आत्मा ज्ञानस्वभावी त्रिकाली वस्तु है, वाणी तथा पुण्य-पाप के भावों का लक्ष छोड़कर उस आत्मा में एकाग्र होना वह वचनगुप्ति है। बाह्यवचन को त्यागकर अर्थात् उधर का लक्ष छोड़कर

१. आचार्य पूज्यपाद : समाधितंत्र, श्लोक १७

तत्पश्चात् अन्तर्वचन जो पुण्य-पाप का उत्थान-विकल्प उसको भी सम्पूर्णरीत्या छोड़कर, आत्मा को ध्याने का नाम सच्ची वचनगुप्ति है।<sup>१</sup>

यह योग परमात्मा अर्थात् चैतन्यस्वभावी ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को प्रकाशित करने के लिए दीपक है। ऐसे परमात्मस्वरूप के भान बिना अन्य किसी भी प्रकार से मन-वचन-काय की क्रिया अथवा पुण्य का विकल्प करे, यह योग नहीं है।<sup>२</sup>”

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि अन्तर्बाह्य वचन विकल्पों के त्यागपूर्वक अपने से जुड़ना योग है, समाधि है। यह योग और समाधि परमात्मा को प्रकाशित करने के लिए दीपक के समान है। तात्पर्य यह है कि आत्मा और परमात्मा के दर्शन इस योग से ही होते हैं, समाधि से ही होते हैं। यही योग व समाधि वचन विकल्पों से परे होने से वचनगुप्ति है।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ‘तथा हि’ लिखकर एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

( मन्दाक्रान्ता )

त्यक्त्वा वाचं भवभयकरीं भव्यजीवः समस्तां  
ध्यात्वा शुद्धं सहजविलसच्चिमत्कारमेकम् ।  
पश्चान्मुक्तिं सहजमहिमानंदसौख्याकरीं तां  
प्राप्नोत्युच्चैः प्रहतदुरितध्वांतसंघतारूपः ॥१२॥

( रोला )

भवभयकारी वाणी तज शुध सहज विलसते ।  
एकमात्र कर ध्यान नित्य चित् चमत्कार का ॥  
पापतिमिर का नाश सहज महिमा निजसुख की ।  
मुक्तिपुरी को प्राप्त करें भविजीव निरन्तर ॥१२॥

भवभय करनेवाली संपूर्ण वाणी को छोड़कर, शुद्ध सहज विलासमान एक चैतन्यचमत्कार का ध्यान करके, फिर पापरूपी अंधकार समूह को नष्ट करके भव्यजीव सहज महिमावंत अतीन्द्रिय आनन्द और परमसुख की खानरूप मुक्ति को अतिशयरूप से प्राप्त करते हैं।

इस छन्द में भी यही कहा गया है कि वचनगुप्ति के बल से संसार-भ्रमण का भय पैदा करनेवाली वाणी को छोड़कर, शुद्धात्मा का ध्यान करके यह भव्यजीव पापरूप अंधकार का नाश कर सहज महिमावंत सुख की खान मुक्ति को प्राप्त करता है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५६३

२. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५६४

नियमसार गाथा ६८

विगत गाथा में वचनगुप्ति की चर्चा करके अब इस गाथा में कायगुप्ति की चर्चा करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

बंधणछेदनमारणआकुंचण तह पसारणादीया।  
कायकिरिया णियत्ती णिद्धिटा कायगुत्ति त्ति॥६८॥

( हरिगीत )

मारन प्रसारन बंध छेदन और आकुंचन सभी।

कायिक क्रियाओं की निवृत्ति कायगुप्ति जिन कही ॥६८॥

बंधन, छेदन, मारन (मार डालना) आकुंचन (सिकुड़ना) तथा प्रसारण (फैलना) आदि क्रियाओं की निवृत्ति को कायगुप्ति कहते हैं।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ कायगुप्ति का स्वरूप कहा है। किसी पुरुष को बंधन का अंतरंग निमित्त कर्म है और बहिरंग हेतु किसी का काय व्यापार है; छेदन का भी अंतरंग कारण कर्मोदय है और बहिरंग कारण प्रमत्त जीव की काय की क्रिया है। मारन का भी अंतरंग हेतु (आयु) का क्षय है और बहिरंग कारण किसी की शारीरिक विकृति है। आकुंचन, प्रसारण आदि का हेतु संकोच-विस्तारादिक के हेतुभूत समुद्घात है। - इन काय क्रियाओं की निवृत्ति कायगुप्ति है।”

उक्त गाथा में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि बंधन, छेदन, मारन, संकुंचन और प्रसारण आदि शारीरिक क्रियाओं से निवृत्ति ही कायगुप्ति है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द स्वयं लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

( अनुष्टुभ् )

मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहः।

संभावयति तस्यैव सफलं जन्म संसृतौ॥१३॥

( दोहा )

जो ध्यावे शुद्धात्मा तज कर काय विकार।

जन्म सफल है उसी का शेष सभी संसार॥१३॥

जो काय विकार को छोड़कर बारम्बार शुद्धात्मा की संभावना (सम्यक् भावना) करता है; इस संसार में उसी का जन्म सफल है।

इस छन्द में भी अत्यन्त संक्षेप में यही कहा है कि जो व्यक्ति शारीरिक विकृतियों

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५४०

२. वही, पृष्ठ ५४०-५४१

से विरक्त हो अपने आत्मा में अनुरक्त होता है, उसी के ध्यान में मग्न रहता है; इस लोक में उसी का जन्म सफल है।

### नियमसार गाथा ६९

विगत तीन गाथाओं में क्रमशः व्यवहार मनोगुप्ति, व्यवहार वचन-गुप्ति और व्यवहार कायगुप्ति का स्वरूप बताया गया है और इस गाथा में निश्चय मनोगुप्ति और निश्चय वचनगुप्ति की चर्चा करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जा रायादि णियत्ती मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती ।

अलियादि णियत्तिं वा मोणं वा होइ वडगुत्ती ॥६९॥

( हरिगीत )

मनोगुप्ति हृदय से रागादि का मिटना अहा।

वचनगुप्ति मौन अथवा असत् न कहना कहा ॥६९॥

मन में से जो रागादि से निवृत्ति होती है, उसे मनोगुप्ति जानो और असत्यादिक से निवृत्ति अथवा मौन वचनगुप्ति है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह निश्चयनय से मनोगुप्ति और वचनगुप्ति की सूचना है। सम्पूर्ण मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण, अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप में सम्यक् रूप से अवस्थित रहना ही निश्चय मनोगुप्ति है। हे शिष्य तू उसे अचलित मनोगुप्ति जान।

समस्त असत्य भाषा का परिहार अथवा मौनव्रत ही वचनगुप्ति है। मूर्त द्रव्यों में चेतना का अभाव होने से अमूर्तद्रव्यों का इन्द्रियज्ञान के अगोचर होने से मूर्त और अमूर्त - दोनों प्रकार के द्रव्यों के प्रति वचन-प्रवृत्ति नहीं होती। इसप्रकार निश्चय वचनगुप्ति का स्वरूप कहा गया।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“मुनि विचार करते हैं कि जड़ में चेतना नहीं है तो फिर किसके साथ बात करें अर्थात् बात करने का विकल्प करें और सामने आत्मा अरूपी है, वह दृष्टिगोचर होता नहीं; अतः ऐसी दशा में मैं किसके साथ बात करूँ। जाननेवाला जो सामनेवाला जीव है वह तो दिखलाई नहीं देता और दिखलाई देनेवाला जो जड़-पुद्गल है वह कुछ जानता नहीं है - इसप्रकार दोनों के साथ वचनप्रवृत्ति नहीं बन सकती।

आत्मा के भानसहित ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में, वचन की तरफ का लक्ष छोड़कर, लीन होना वह निश्चयवचनगुप्ति है। मौन अर्थात् भाषारहित तो एकेन्द्रिय भी है,

किन्तु उसे आत्मा का भान नहीं है। यहाँ तो आत्मा के भानसहित स्वरूपस्थिरता होने पर विकल्प न उठे, उसे मौन कहते हैं।<sup>१</sup>”

इस गाथा में निश्चय मनोगुप्ति और निश्चय वचनगुप्ति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अखण्ड अद्वैत त्रिकालीध्रुव आत्मा का ध्यान ही निश्चय मनोगुप्ति है और मौन अथवा असत्य भाषण के सम्पूर्णतः त्यागपूर्वक आत्मध्यान की अवस्था ही निश्चय वचनगुप्ति है।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है -

( शार्दूलविक्रीडित )

शस्ताशस्तमनोवचस्समुदयं त्यक्त्वात्मनिष्ठापरः  
शुद्धाशुद्धनयातिरिक्तमनघं चिन्मात्रचिन्तामणिम् ।  
प्राप्यानंतचतुष्टयात्मकतया सार्धं स्थितां सर्वदा  
जीवन्मुक्तिमुपैति योगितिलकः पापाटवीपावकः ॥१४॥

( हरिगीत )

अप्रशस्त और प्रशस्त सब मनवचन के समुदाय को।

तज आत्मनिष्ठा में चतुर पापाटवी दाहक मुनी॥

चिन्मात्र चिन्तामणि शुद्धाशुद्ध विरहित प्राप्त कर।

अनंतदर्शनज्ञानसुखमय मुक्ति की प्राप्ति करें॥१४॥

पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि समान योगी तिलक मुनिराज प्रशस्त और अप्रशस्त मन व वाणी के समुदाय को छोड़कर आत्मनिष्ठा में परायण, शुद्धनय और अशुद्धनय से रहित निर्दोष चैतन्यचिन्तामणि को प्राप्त करके अनन्तचतुष्टयात्मक जीवनमुक्ति को प्राप्त करते हैं।

उक्त छन्द के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ पुण्य और पाप दोनों ही पापरूपी अटवी हैं - ऐसा समझना। पुण्य-पापरूपी अरण्य को जलाने में अग्निसमान मुनिशिरोमणि, शुभ-अशुभ दोनों को छोड़कर ज्ञानानन्द स्वभाव में तत्पर रहते हैं। जिनको ‘आत्मा द्रव्य से त्रिकाल शुद्ध है और पर्याय में अशुद्ध है’, ऐसे शुद्ध और अशुद्धनय के विकल्प नहीं उठते; वे मुनि शुद्ध और अशुद्धनय के विकल्प से रहित निर्दोष चैतन्यमात्र चिन्तामणि को प्राप्त करके अनन्त-चतुष्टयात्मक - अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त-वीर्यात्मक

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५७३-५७४

स्वरूप के साथ सर्वदा स्थित जीवन्मुक्ति को पाते हैं।<sup>१</sup>

कोई कहे कि मन-वचन-शरीर को अधिकार में रखना - नियंत्रण में रखना वह गुप्ति है, तो यह ठीक नहीं है। शरीरादि जड़ हैं, उन्हें नियंत्रण में नहीं रखा जा सकता; क्योंकि परद्रव्य के ऊपर आत्मा का अधिकार नहीं है। यहाँ तो शरीरादि की तरफ का लक्ष छोड़कर, पुण्य-पाप के भाव का भी लक्ष त्यागकर आत्मा में एकाग्र होने को गुप्ति कहा है - धर्म कहा है।<sup>२</sup>

लोग कहते हैं कि सामायिक करने के लिए कहो न ?

भाई ! प्रथम सच्ची समझ तो कर! जिसे अभी सच्ची समझ भी नहीं है उसे सामायिक कहाँ से होगी? सामायिक तो व्रत है, वह पाँचवें गुणस्थान में होता है। चौथे गुणस्थान के हुए बिना पाँचवाँ कहाँ से आवेगा? इसलिए यहाँ सर्वप्रथम आत्मा की सच्ची समझ करने की बात चलती है।<sup>३</sup>”

इसप्रकार इस छन्द में यही कहा गया है कि निश्चय मनोगुप्ति और निश्चय वचनगुप्ति के धनी मुनिराज अनन्तचतुष्टय से संयुक्त मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

#### नियमसार गाथा ७०

विगत गाथा में निश्चय मनोगुप्ति और निश्चय वचनगुप्ति का स्वरूप समझाया है; अब इस गाथा में निश्चय कायगुप्ति की चर्चा करते हैं। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

कायकिरियाणियत्ती काउस्सगो सरीरगे गुत्ती।

हिंसाइणियत्ती वा सरीरगुत्ति त्ति णिद्धिद्धा ॥७०॥

( हरिगीत )

दैहिक क्रिया की निवृत्ति तनगुप्ति कायोत्सर्ग है।

या निवृत्ति हिंसादि की ही कायगुप्ति जानना ॥७०॥

दैहिक क्रियाओं की निवृत्तिरूप कायोत्सर्ग ही काय संबंधी गुप्ति है अथवा हिंसादि की निवृत्ति को शरीरगुप्ति कहा है।

इस गाथा के भाव को तात्पर्यवृत्ति टीका में मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह निश्चय कायगुप्ति के स्वरूप का कथन है। सभी लोगों को शरीर संबंधी बहुत सी क्रियायें होती हैं। उनकी निवृत्ति ही कायोत्सर्ग है और वही कायगुप्ति है अथवा पाँच स्थावर जीवों और त्रस जीवों की हिंसा से निवृत्ति ही कायगुप्ति है।

जो परम संयम को धारण करनेवाले परमजिन योगीश्वर हैं; वे अपने चैतन्यरूप

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५७४-५७५

२. वही, पृष्ठ ५७७

३. वही, पृष्ठ ५७९

शरीर में अपने चैतन्यरूप शरीर से प्रविष्ट हो गये हैं। उनकी यह अकंपदशा ही निश्चय कायगुप्ति है।”

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं -

“चैतन्य जाननेवाला-देखनेवाला है। वह अपना (आत्मा का) शरीर है, यह हाड़-माँस से निर्मित शरीर अपना शरीर नहीं है। स्वभाव में जिनकी लीनता है ऐसे जो परमजिनयोगीश्वर चैतन्य ज्ञानानन्दरूप शरीर में अपने ज्ञाता-दृष्टास्वरूप शरीर से प्रवेश कर गए, उनकी अकम्पदशा ही निश्चयकायगुप्ति है।<sup>१</sup>

आत्मा का यह ज्ञानानन्दस्वरूप शरीर आत्मा से कभी छूटता नहीं। अपने ज्ञानानन्द शरीर में (द्रव्य में) जो परममुनिवर अपने ज्ञान शरीर से (शुद्ध पर्याय से) प्रवेश कर गए - आत्मस्वरूप में लीन हो गए, उन्हें निश्चयकायगुप्ति है।<sup>२</sup>”

इस गाथा में मात्र यह कहा गया है कि वस्तुतः कायोत्सर्ग ही निश्चय कायगुप्ति है। यह कायोत्सर्ग की स्थिति त्रस-स्थावर जीवों के घात से सर्वथा रहित होती है; इसलिए हिंसादि की निवृत्ति को भी कायगुप्ति कहा जाता है। मुनिराजों की अकंपध्यानावस्था ही वस्तुतः कायगुप्ति है।

इसके बाद मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ‘तथा तत्त्वानुशासन में भी कहा है’ - ऐसा कहकर एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है -

( अनुष्टुभ् )

उत्सृज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणम् ।

स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥<sup>३</sup>

( सोरठा )

दैहिक क्रिया कलाप भव के कारण भाव सब ।

तज निज आतम माँहि रहना कायोत्सर्ग है ॥

दैहिक क्रियाओं और संसार के कारणभूत जीवों को छोड़कर अव्यग्र रूप से निज आत्मा में स्थित रहना ही कायोत्सर्ग कहलाता है।

इस छन्द में कायोत्सर्ग का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि भव के कारणरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप भावों और शारीरिक क्रियाकलापों को छोड़कर अपने आत्मा में स्थिर रहना ही कायोत्सर्ग है। (क्रमशः)

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ५७८

२. वही, पृष्ठ ५७९

३. तत्त्वानुशासन

